५०

जैन कर्म सिद्धान्त और विज्ञान : पारस्परिक अभिगम

☐ डॉ. जगदीशराय जैन

जैन कर्म सिद्धान्त को समझने के लिए "आत्मा" के स्वरूप को समझना आवश्यक है और इसके वैज्ञानिक विवेचन के लिए आत्मा अथवा जीव के सम्बन्ध में वैज्ञानिक धारणा क्या है, दोनों धारणाओं में कोई अन्तर है या मूलतः एक ही हैं, इसके लिए वैज्ञानिक इतिहास का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि प्रारम्भिक काल में वैज्ञानिक पदार्थों के गुण, स्वभाव, शब्द, प्रकाश, विद्युत इत्यादि के अनुसंधान में लगे रहे। मानव के जीवन एवं आत्म स्वभाव—ज्ञान, राग, द्वेष, भावना इत्यादि प्रश्नों की ओर उनका ध्यान न था। प्राचीन वैज्ञानिकों में से अधिकतर ज्ञान को भौतिक मस्तिष्क से उत्पन्न हुआ मानते थे। उनके विचार में आत्मा पुद्‌गल से पृथक् कोई वस्तु न थी। सर्वप्रथम वैज्ञानिक टेंडल ने बटलर पादरी के आत्मा के समर्थन में कहा कि पुद्‌गल चेतना रहित ज्ञान शून्य जड़ पदार्थ है और आत्मा चेतना युक्त ज्ञानमयी तत्त्व है और क्योंकि यह असम्भव है कि एक ही पदार्थ का स्वभाव जड़ व अचेतन हो और साथ-साथ उसका स्वभाव ज्ञानमयी व चेतन भी हो। 'तत्त्वार्थ सूत्र' में "उपयोगो जीव लक्षणम्" लिखा गया है जिसका अर्थ है कि जानने की क्रिया, यह जीव का लक्षण है। ज्ञान, आत्मा का एक निज गुण है जो कभी भी किसी हालत में आत्मा से विलग नहीं हो सकता। जड़ पदार्थ इन्द्रियों द्वारा ग्रहण भी किये जा सकते हैं और समझे भी जा सकते हैं। मगर आत्मा अति सूक्ष्म वस्तु है। वह इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं है। कहा भी है—"नोइंदियग्गेज्झ अमुत्ति भावा।" भौतिक विज्ञान के प्रोफेसर बालफोर स्टीवर्ट, सर आलिवर लाज, प्रोफेसर मैसर्स इत्यादि ने केवल आत्मा के अस्तित्व तथा नित्यता को ही स्वीकार नहीं किया बल्कि परलोक के अस्तित्व को भी माना। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ० जगदीशचन्द्र बसु के अनुसंधान ने तो यह सब कुछ वनस्पति संसार के लिए भी सिद्ध कर दिया है। एक वैज्ञानिक सिद्धान्त है कि तत्त्व न ही विनाशशील है और न ही उत्पाद्य है। यद्यपि बाह्य रूप में परिवर्तन होता रहता है। इस सिद्धान्त को आत्मा पर लागू करें तो आत्मा न कभी उत्पन्न हुआ है और न कभी इसका विनाश होगा अर्थात् अजर-अमर है, केवल इसके बाह्य अवस्था में परिवर्तन होता रहता है। आत्मा के बाह्य अवस्था के परिवर्तन के कारण का स्पष्टीकरण करने के लिए मनोवैज्ञानिक भी ज्ञात और अज्ञात मन के सिद्धान्त को लेकर इस दिशा में प्रयास कर रहे हैं।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा के बाह्य अवस्था के परिवर्तन का कारण जैन कर्मसिद्धान्त, आत्मा द्वारा स्वयं किए हुए कर्मों को मानता है। कहा है—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ।।

अर्थात् आत्मा ही सुख-दुःख का जनक है और आत्मा ही उनका विनाशक है। सदाचारी सन्मार्ग पर लगा हुआ आत्मा अपना मित्र है और कुमार्ग पर लगा हुआ दुराचारी अपना शत्रु है। वैज्ञानिक न्यूटन का एक नियम यह भी है कि क्रिया और प्रतिक्रिया एक साथ होती रहती है अर्थात् जब जीव कोई कर्म करेगा तो उसकी प्रतिक्रिया उसके किए कर्मानुसार, उसकी आत्मा पर अवश्य अंकित होगी। विज्ञान के आविष्कार बेतार के तार (Wireless Telegraphy), रेडियो, टेलीविजन आदि के कार्य से यह निर्विवाद सिद्ध है कि जब कोई कार्य करता है तो समीपवर्ती वायुमंडल में हलन-चलन क्रिया उत्पन्न हो जाती है और उससे उत्पन्न लहरें चारों ओर बहुत दूर तक फैल जाती हैं उन्हीं लहरों के पहुँचने से शब्द व आकार बिना तार के रेडियो, टेलीविजन में बहुत दूर-दूर स्थानों पर पहुँच जाते हैं और उन्हें जिस स्थान पर चाहें वहीं पर अंकित कर सकते हैं। इसी प्रकार जब कोई जीव मन, वचन अथवा शरीर से कोई कार्य करता है तो उसके समीपवर्ती चारों ओर के सूक्ष्म परमाणुओं में हलन-चलन क्रिया उत्पन्न हो जाती है। ये सूक्ष्म परमाणु जिन्हें कार्मणवर्गणा भी कहा जाता है, आत्मा की ओर आकर्षित होते हुए आत्मा के वास्तविक स्वरूप को ढक लेते हैं।

जैन कर्मसिद्धान्त इन कर्म परमाणुओं को स्थूल रूप से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय नाम की संज्ञा देता हुआ इनकी १५८ प्रकृतियाँ बतलाता है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म घातिक कर्म कहे जाते हैं क्योंकि इनसे आत्मा का अनन्त ज्ञान, दर्शन व वीर्य आच्छादित होकर, कषाय, विषय, विकार, आदि उत्पन्न हो जाते हैं। वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म आत्मा के गुणों का घात न करने के कारण अघातिक कर्म कहलाते हुए भी मुक्ति के मार्ग में बाधक हैं। आठ कर्मों का स्वभाव (प्रकृति) भिन्न-भिन्न होने के कारण **प्रकृतिबंध** कहलाता है। कर्मबन्ध हो जाने के बाद जब तक फल देकर अलग नहीं हो जाता, तब तक की काल मर्यादा (आबाधा काल) **स्थितिबन्ध** कहलाती है। सब कर्मों में मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थितिबन्ध (आबाधाकाल) ७० कोड़ा कोड़ी सागरोपम की मानी गई है और साथ-साथ में यह भी कहा गया है कि चिकने कर्म तो भोगने ही पड़ते हैं। बुरे कर्म अशुभ या कटुक फल देते हैं और शुभ कर्म मधुर फल प्रदान करते हैं। विभिन्न प्रकार के रस (कटुक या मधुर फल) को **अनुभाग बन्ध** कहते हैं और कर्म दलिकों के समूह को **प्रदेश बन्ध** कहते हैं। बद्ध

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्म कितने समय तक आत्मा के साथ चिपटा रहे और किस प्रकार का तीव्र, मन्द या मध्यम फल प्रदान करे, यह जीव के कषाय भाव पर निर्भर है। अभिप्राय यह है कि यदि कषाय तीव्र है तो कर्म की स्थिति लम्बी होगी और विपाक भी तीव्र होगा। तभी तो अनन्तानुबन्धी कषाय को नरक का कारण माना जाता है। अतः कषाय की तीव्रता और मन्दता के कारण स्थिति और अनुभाग बन्ध की न्यूनाधिकता समझनी चाहिए। अरिहन्त भगवान् वीतरागता के धारक कषायों से सर्व प्रकार से अतीत होते हैं। अतः उन्हें स्थिति और अनुभाग बन्ध होते ही नहीं हैं। योग के निमित्त से कर्म तो आते हैं परन्तु कषाय न होने के कारण उनकी निर्जरा होती रहती है। "सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान पुद्गलानादत्ते स बन्धः" अर्थात् संक्षेप में कषाय ही कर्म बन्ध के मूल कारण हैं। कर्म का फल अमोघ है—अनिवार्य है अर्थात् किये हुए कर्म विपाक होने पर तो अवश्य ही भोगने पड़ते हैं। यह शाश्वत सत्य है। तभी तो किसी ने कहा है—

जरा कर्म देख कर करिए, इन कर्मों की बहुत बुरी मार है।
नहीं बचा सकेगा परमात्मा, फिर औरों का क्या एतबार है॥

वैज्ञानिक लीचैटलीयर का सिद्धान्त है कि प्रत्येक तन्त्र या संस्थान अपनी साम्यस्थिति से असाम्यस्थिति में यदि चली जाती है तो भी वह अपनी पूर्व साम्यस्थिति में आने का प्रयास करती है। अर्थात् आत्मा के द्वारा किये कर्मानुसार आत्मा पर कर्मवर्गणा का आवरण चढ़ेगा तो भी कर्म विपाक उचित समयानुसार आत्मा के अनन्त वीर्य या तपस्या द्वारा जीव किये हुए कर्मों की निर्जरा भी करेगा, तभी तो साम्यस्थिति को पुनः प्राप्त कर सकेगा। इससे श्रमण भगवान् महावीर के इस कथन की पुष्टि हो जाती है कि सभी भव्य आत्माएँ नवीन कर्मों के आगमन का निरोध कर और पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा कर मोक्ष में पहुँच जाएँगी। जैन दर्शन आत्मा में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त शक्ति (बल-वीर्य) इत्यादि गुण मानता है जिनको कर्म-प्रकृतियों ने दबा दिया है। निश्चयनय से विचार करें तो प्रत्येक आत्मा शुद्ध रूप में सिद्ध स्वरूप है। कहा भी है—

सिद्धा जैसा जीव है, जीव सोई सिद्ध होय।
कर्म मैल का आंतरा, बूझै बिरला कोय॥

आत्मा में अनन्त शक्ति, बल, वीर्य अर्थात् पुरुषार्थ विद्यमान है। जो मनुष्य अपने उद्देश्य की प्राप्ति में अनेक बिघ्न व बाधाओं के उपस्थित होने पर भी प्रयत्नशील रहते हैं, अन्त में उन पुरुषार्थी मनुष्यों के मनोरथ सफल भी हो जाते हैं। तभी तो कर्मयोग अर्थात् पुरुषार्थ को प्रगति का मूल कहा है। भगवान् महावीर ने मानव जाति को यह महान् सन्देश दिया है कि मानव तेरा स्वयं का

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

निर्माण और विध्वंस तेरे स्वयं के हाथों में है अर्थात् अपने सत्कार्यों द्वारा तू स्वयं को बना भी सकता है और असत् कार्यों द्वारा अपने को बिगाड़ भी सकता है। कहा है—

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तियो।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥

अर्थात् कर्म ही मनुष्य को ब्राह्मणत्व प्रदान करते हैं, कर्म ही मनुष्य को क्षत्रिय बनाते हैं, कर्मों से ही मनुष्य वैश्य है और कर्मों से ही शूद्र। सभी तीर्थंकर भगवान्, महापुरुष श्री राम, श्री कृष्ण, महात्मा गान्धी आदि ने कर्मयोग अर्थात् पुरुषार्थ के माध्यम से ही अपने-अपने लक्ष्यों को प्राप्त किया है।

सवणे णाणे य विण्णाणे, पच्चक्खाणे य संजमे।
अणासवे तवे चेव वोदाणे अकिरिअ सिद्धि ॥

उक्त गाथा आध्यात्मिक साधकों के लिए तो रची ही गई है पर वैज्ञानिक भी इसी गाथा के भाव अनुसार चलकर ही वैज्ञानिक नियम व सिद्धान्तों को सिद्ध कर पाते हैं। वैज्ञानिक सर्व प्रथम ज्ञान को अनन्त मानता है, उसको प्राप्त करने के लिए उपलब्ध साहित्य व ज्ञानगोष्ठी इत्यादि का सहारा लेता है और उस ज्ञान को अनेकान्तवाद अर्थात् सापेक्षवाद की कसौटी पर कसता है। विज्ञान के किसी नियम या सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए वैज्ञानिक को अपने मन, वचन काय का पूर्ण रूप से संयम, त्याग, तपस्या अर्थात् पुरुषार्थ को अपनाना पड़ता है। भगवान् महावीर का कथन है कि सत्य को जब तक अनेक दृष्टिकोणों से नहीं देखेगा तब तक उसका साम्ययोगी बनना सम्भव नहीं है। इस प्रकार सम्यक्ज्ञान को प्राप्त कर संयम के द्वारा नवीन कर्मों के आस्रव को रोकता हुआ तपस्या द्वारा अपने पूर्व संचित कर्मों का क्षय अर्थात् निर्जरा करता हुआ मन, वचन, काय रूप योगों का निरोध करके सार शब्दों में सम्यक्चारित्र को अपना कर सिद्ध अवस्था को प्राप्त होता है। इन सब के लिए कर्मयोग अर्थात् पुरुषार्थ अत्यन्त आवश्यक है।

'भव कोडि संचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ' अर्थात् तपस्या से करोड़ों भवों के संचित् कर्मों की निर्जरा कर दी जाती है। श्रमण भगवान महावीर ने अपने पूर्व संचित कर्मों को जो कि पहले हुए २३ तीर्थंकरों के सारे कर्मों को मिलाकर के बराबर थे, अपनी उग्र तपस्या द्वारा क्षय कर दिया। तभी तो अन्य सब तीर्थंकरों की अपेक्षा से महावीर भगवान के तप को उग्र तप बताया गया है। यह 'आवश्यक निर्युक्ति' की गाथा "उग्गं च तवो कम्मं विशेषतो वद्धमाणस" से स्पष्ट है। वैज्ञानिक ढंग से यह सिद्ध करने का प्रयास किया जा सकता है कि

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

तपस्या किस प्रकार कर्म निर्जरा करके आत्मा को 'अकिरिअ' करके सिद्ध बना देती है। चुम्बक में आकर्षण शक्ति होती है परन्तु जब इसको तपा दिया जाता है तो आकर्षण शक्ति नष्ट होकर इसको 'अकिरिअ' बना देती है। इसी प्रकार से कर्मों से आबद्ध आत्मा को जब तपस्या रूपी अग्नि से तपा दिया जाता है तो बन्धे हुए कर्म क्षय होकर, आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में प्रकट होकर अकिरिअ होती हुई सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेती है। आवश्यकता है कर्म सिद्धान्त को समझकर उसके साथ पुरुषार्थ योग को जोड़कर साधना करने की।

□

जहा दड्ढाणं बीयाणं, ण जायंति पुण अंकुरा।
कम्म बीएसु दड्ढे, ण जायंति भवांकुरा॥

अर्थ—जिस प्रकार दग्ध बीज अंकुरित नहीं होते उसी प्रकार कर्म बीजों के दग्ध होने पर भव-भव में जन्म लेने की आवश्यकता नहीं रहती।

यादृशं क्रियते कर्म, तादृशं प्राप्यते फलम्।
यादृशमुप्यते बीजं, तादृशं भुक्ते फलम्॥

अर्थ—जीव जिस प्रकार कर्म करता है तदनुसार फल की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार बीज का वपन किया जाता है, उसी प्रकार के फल की प्राप्ति सम्भव है।

सत्यानुसारिणी लक्ष्मीः, कीर्ति त्यागानुसारिणी।
अभ्याससारिणी विद्या, बुद्धि कर्मानुसारिणी॥

अर्थ—लक्ष्मी सत्य का अनुसरण करती है। कीर्ति त्याग का अनुगमन करती है। विद्या अभ्यास से ही आती है। तथैव कर्म के अनुसार ही बुद्धि की प्रवृत्ति होती है।

तेणे जहा संधि-मुहे गहिए, सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पेच्च इहं च लोए, कडाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि॥

—उत्तराध्ययन ४/३

अर्थ—जिस प्रकार संधिमुख पर सेंध लगाते हुए पकड़ा हुआ पापात्मा चोर अपने ही किये हुए कर्मों से दुःख पाता है। उसी प्रकार जीव इस लोक और परलोक में अपने किये हुए अशुभ कर्मों से दुःख पाते हैं, क्योंकि फल भोगे बिना, किये हुए कर्मों से छुटकारा नहीं होता।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org